2 Ch

6

आश्रम व्यवस्था

(Ashrama System)

इस अध्याय में हम जानेंगे :

- आश्रम का अर्थ एवं परिभाषाएं
- चार आश्रम-ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम
- आश्रम व्यवस्था का महत्त्व

आश्रम व्यवस्था मनुष्य-जीवन को चार भागों में इस प्रकार विभाजित करती है कि पहले वह ज्ञान की प्राप्ति करे, फिर संसार की वास्तविकताओं को भोगे तदनन्तर सांसारिक झंझटों से अपने को दूर रखकर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करे तथा अन्त में उसी परम सत्य की खोज में अपना उत्सर्ग कर उसी में एकाकार होने के लिए प्रयत्नशील हो। यही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है जिस की प्राप्ति के लिए मनुष्य को धीरे-धीरे तैयार करने की सुविचारित योजना ही आश्रम-व्यवस्था है।

'आश्रम' का अर्थ एवं परिभाषाएं

(Meaning and Definitions of Ashrama)

'आश्रम' शब्द संस्कृत की 'श्रम्' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयास करना या परिश्रम करना। 'साहित्यिक दृष्टिकोण से आश्रम शब्द विश्राम-स्थल या पड़ाव को सूचित करता है अर्थात् यह वह सरणी है जिस पर कि व्यक्ति कुछ समय के लिए रुक जाता है। उसका यह अवरोध जीवन-यात्रा की थकान को दूर करने के लिए, आराम करने के लिए; या यूँ कहिए कि वह रुक जाता है आगामी यात्रा के निमित्त अपने को तैयार करने के लिए।

आश्रम की प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

☞ **डॉ. ब्रजनाथ सिंह यादव**–*"आश्रम का अर्थ जीवन का वह विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है।"*

Scanned with CamScanner

- **प्रभु**—*"आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा की जाने वाली जीवन-यात्रा के मध्य के विश्राम-स्थल मानना चाहिए।"*
- **महाभारत में व्यासजी**—*"जीवन के चार विश्राम-स्थलों या आश्रमों को चार सरणियों वाली एक सीढ़ी समझना चाहिए। यह सीढ़ी 'ब्रह्म' के पास पहुंचने के लिए है। व्यक्ति इस सीढ़ी के द्वारा ब्रह्म के साम्राज्य में पहुंच जाता है अर्थात् वह मुक्ति को प्राप्त करता है।"*

उपर्युक्त परिभाषाओं और कथनों के आधार पर कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। **प्रभु** के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आश्रम शब्द 'स्थान' तथा 'प्रयास की क्रिया' दोनों का द्योतक है। **डॉ. यादव** के अनुसार यह जीवन का वह विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है। इस परिभाषा में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—पहला 'विभाग' और दूसरा 'प्रयास'।

अतः हम यह कह सकते हैं कि **आश्रम-व्यवस्था हिन्दू-जीवन का वह क्रमबद्ध इतिहास हैं जिसका कि उद्देश्य जीवन-यात्रा को विभिन्न स्तरों में बांटकर प्रत्येक स्तर पर मनुष्य को कुछ समय तक रखकर उसे इस भांति तैयार करना है कि वह जगत् की वास्तविकताओं और प्रयासमय क्रियात्मक जीवन की अनिवार्यताओं में से गुजरता हुआ अन्तिम लक्ष्य पर ब्रह्म या मोक्ष को प्राप्त कर सके जोकि मानव-जीवन का परम व चरण लक्ष्य या उद्देश्य है।**

चार आश्रम
(Four Ashramas)

आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन को चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—बांटा गया है। इस प्रकार में यह कहा जा सकता है कि आश्रम-व्यवस्था वह साधन या योजना है जिसके द्वारा पुरुषार्थ या जीवन के मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति सरल व सम्भव है। यहां इन चारों आश्रमों की विस्तार से विवेचना की जाएगी—

(1) ब्रह्मचर्याश्रम (Brahmacharyashrama)

'ब्रह्मचर्य' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—'ब्रह्म' तथा 'चर्य'। 'ब्रह्म' का अर्थ महान् तथा 'चर्य' का अर्थ है विचरण करना; अर्थात् ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है ऐसे मार्ग पर चलना जिससे मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से छोटे से महान् हो सकते हैं। कुछ लोग 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ केवल लैंगिक संयम समझते हैं। परन्तु यह तो ब्रह्मचर्य का सिर्फ एक पहलू है; शुद्ध अर्थों में ब्रह्मचर्य क्षुद्रता से महत्ता की ओर ऊर्ध्वागति या महान् होने की साधना है। **डॉ. मातृदत्त त्रिवेदी** ने लिखा है कि ब्रह्मचर्य का आशय केवल इन्द्रियनिग्रह से नहीं था; अपितु इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक वेदाध्ययन से था, क्योंकि ब्रह्म और वेद यह दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं—'ब्रह्मदेव इति श्रुते'। एक अर्थ में ब्रह्मचारी का जीवन तपस्या का जीवन था।

उपनयन (जनेऊ) संस्कार के उपरांत बालक जीवन के प्रथम आश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता था। यह संस्कार व्यक्ति को अनुशासित जीवन व्यतीत करने के लिए

Scanned with CamScanner

आमन्त्रित करता है। उपनयन संस्कार विभिन्न वर्णों में अलग-अलग आयु में, क्षत्रिय का दस से चौदह वर्ष की आयु में और वैश्य का बाहर से सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता है। विद्यार्जन एक प्रकार की साधना है और इसके लिए नैतिक वातावरण की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि विधार्जन के हेतु बालक को घर पर न रखकर 'गुरुकुल' में भेज दिया जाता था। वहां ब्राह्मण को धर्मशास्त्र सम्बन्धी, क्षत्रिय को शस्त्र सम्बन्धी तथा वैश्य को व्यापार सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। शूद्रों को गुरुकुल में जाने की आज्ञा न थी। दीक्षा-संस्कार गुरु के निवास-स्थान पर वैदिक साहित्य अध्ययन का प्रथम चरण था। यद्यपि दीक्षित व्यक्ति को वेदाध्ययन की आज्ञा तुरन्त नहीं दी जाती थी। शिष्य को पहले कई प्रकार से गुरु की सेवा कर उन्हें प्रसन्न करना पड़ता था।

ब्रह्मचारियों के मुख्य कर्त्तव्य हैं—ईश्वर के बारे में ज्ञान प्राप्त करना, दोषों, बुराइयों अपवित्र व अनुचित कार्यों से बचना, पवित्र जीवन बिताना, शरीर एवं मस्तिष्क को अनुशासित करना, धर्म आदि से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना या संक्षेप में वेदाध्ययन करना, दूसरों का आदर-सत्कार करना तथा सादा जीवन व उच्च विचार के आदर्श को अपनाना।

जब गुरुकुल में ब्रह्मचारी के लिए धर्म व परम्परा के अनुसार निश्चित पठन-पाठन का कोर्स (course) समाप्त हो जाता था तो वह एक प्रतीकात्मक (symbolic) स्नान करता था, यह दिखलाने के लिए कि उसने उस आश्रम के कोर्स की पूर्ण सिद्धि एवं समाप्ति कर ली है। अतः अब 'स्नातक (अर्थात् जिसने 'स्नान' कर लिया है) कहलाता है। अब वह दूसरे आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी एवं उसके योग्य है। विद्याध्ययन समाप्त होने पर अन्त में विद्यार्थी अपने गुरु जो दक्षिणा देकर वापस जाता है जोकि इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति ने धर्म से सम्बन्धित अपने जीवन का प्रथम स्तर पार कर लिया है और अब वह द्वितीय स्तर में पदार्पण करने जा रहा है। गुरु से विदा लेकर घर वापस आने के संस्कार को 'समवर्तन' कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम के आरम्भ और अन्त में एक विशेष कृत्य या संस्कार होता था।

(2) गृहस्थाश्रम (Grihasthashrama)

ब्रह्मचर्याश्रम में आवश्यक तैयारी करने के पश्चात् मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था जो शास्त्रकारों की दृष्टि में अन्य सभी आश्रमों से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अन्य सभी आश्रमों का आधार है। **प्रो. हरिदत्त वेदालंकार** ने लिखा है कि गौतम (3/1 तथा 3/5) तथा बौधायन धर्मसूत्र (2/6/29, 42-43) का यह मत है कि वास्तव में केवल एक ही आश्रम—गृहस्थाश्रम है; ब्रह्मचर्य इसकी तैयारी मात्र है, वानप्रस्थ और संन्यास गृहस्थ-धर्म की शिक्षा देने वाले एवं जीवन-पालन का निर्देश करने वाले हैं और अनेक वैदिक वचनों के विरोधी होने के कारण अमान्य हैं। बाद में धर्मशास्त्रकारों ने यद्यपि पिछले दो आश्रमों को अस्वीकार नहीं किया किन्तु वे गृहस्थाश्रम की प्रशंसा के गीत गाते नहीं थके।।(3/3) ने इसे अन्य सब आश्रमों का मूल कहा है।.प्रायः सभी स्मृतिकार इसे अन्य आश्रमों का आधार बताते हैं।

Scanned with CamScanner

गृहस्थाश्रम में ही **'मर्यो मिथुना यजत्रः'** इस वैदिक सिद्धान्त के आधार पर सपत्नीक मनुष्य पंच महायज्ञ तथा पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ आदि करता था। पंच महायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञाय, भूतयज्ञ और नृयज्ञ) में से प्रथम तीन यज्ञ क्रमशः उपर्युक्त तीन ऋणों (ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण) से उऋण होने के ही साधन हैं। धार्मिक आधार पर निश्चित प्रत्येक पुरुष के अपने जीवन में इहलोक तथा परलोक से सम्बन्धित कुछ नैतिक कर्त्तव्य होते हैं। मनु इन्हें 'यज्ञ' की संज्ञा देकर सामाजिक संहिता या नियमों के क्षेत्र के अन्तर्गत लाए हैं अर्थात् इन नैतिक कर्त्तव्यों को ही मनु ने 'यज्ञ' कहा है। ये संख्या में पांच हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए एक गृहस्थ को अनेक प्रकार के कार्यों को करना पड़ता है और उनमें से सबसे प्रमुख कार्य गृहस्थ पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों का पालन-पोषण करना है। माता-पिता, गुरु, पत्नी, सन्तान, शरण में आए हुए असहाय व्यक्ति, अतिथि आदि का भरण-पोषण करना प्रत्येक गृहस्थ का पवित्र कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को न निभाने पर व्यक्ति को नरक में जाना पड़ता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक सभी दृष्टिकोणों से गृहस्थाश्रम का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक है। एक गृहस्थ पर पंच महायज्ञ तथा अन्य कर्त्तव्यों को इसलिए लादा गया है क्योंकि वह अपने परिवार के अन्य सदस्यों का भरण-पोषण करते हुए मनुष्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता रहे और धीरे-धीरे पंच महायज्ञ तथा अन्य धार्मिक आचरणों के माध्यम से धर्म संग्रह करता रहे। ये धर्म ही इसे उसके इहलोक तथा परलोक के जीवन की उन्नति करने में सहायक सिद्ध होंगे।

(3) वानप्रस्थाश्रम (Vanaprashthashrama)

एक व्यक्ति 25 वर्ष तक गृहस्थाश्रम में कर्मार्जन तथा धर्मार्जन कर वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में पत्नी के साथ अथवा बिना पत्नी के प्रवेश किया जा सकता था। वानप्रस्थाश्रम में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, व्यक्ति को केवल कुल एवं गृह का ही आश्रय नहीं छोड़ना पड़ता था बल्कि वह गांव का भी आश्रय छोड़कर जंगल में अपनी कुटिया बनाकर रहता था।

मनु का निर्देश यह है कि—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बलिपलित मात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।।

अर्थात् गृहस्थ जब यह देख ले कि शरीर की त्वचा ढीली पड़ गई और सिर के बाल सफेद हो गए, सन्तान की भी सन्तान हो गई, तब घर-बार का मोह छोड़कर जंगल की राह ले। जंगल में रहते हुए भी वानप्रस्थी निष्कर्मण्य जीवन व्यतीत नहीं करता था। जैसे ब्राह्मण के लिए स्वेच्छापूर्वक निर्धन जीवन व्यतीत करना उसके जीवन का लक्ष्य कहा गया है, वैसे ही वानप्रस्थी के लिए स्वेच्छापूर्वक घर-बार का मोह त्यागकर सादा, सरल, सेवायुक्त तथा पवित्र जीवन व्यतीत करना उसके जीवन का लक्ष्य कहा गया है।

Scanned with CamScanner

वानप्रस्थी अपने परिवार का सदस्य न रहकर सम्पूर्ण समाज का सदस्य बन जाता था तथा अपने समस्त कर्मों के द्वारा समाज का कल्याण करने का प्रयत्न करता था। इन समस्त प्रयत्नों के बीच वानप्रस्थी सत्य की खोज तथा आध्यात्मिकज्ञान की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील रहता था। इसके लिए वह सांसारिक आनन्द एवं सुख प्राप्त करने वाली समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता था।

इस सबका उद्देश्य उसे अपने शरीर के प्रति उदासीन दिखाना था और भविष्य के प्रति जागृत रहना था। उन परिस्थितियों में रहते हुए भी उसे पंच महायज्ञों को करते रहना पड़ता था, जैसा कि वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए करता था। उसे यज्ञ के लिए पर्याप्त और पूर्ण रूप से आहुति देनी पड़ती थी, वह अपने खाने के लिए जो कुछ भी खाद्य सामग्री एकत्र करता था उसमें से अतिथि-सत्कार के लिए भी उसे सदैव तैयार रहना पड़ता था। साथ ही उसे अपने समय का सदुपयोग वेदाध्ययन द्वारा करना होता था। इस प्रकार उसे अपने अध्ययन, ध्यान व चिन्तन के द्वारा आत्मा व परमात्मा के तथा इहलोक या परलोक से सम्बन्धित गूढ़ बातों को जानने का प्रयास करना होता था। सत्य और ज्ञान की खोज ही उसके जीवन का उद्देश्य होता था और जन सेवा उसके जीवन का व्रत।

(4) संन्यासाश्रम (Sanyasashrama)

उपर्युक्त विधि से अपने को तैयार करने के पश्चात् व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम आश्रम—संन्यासाश्रम में प्रवेश करता था। ऐसी सभी चीजों को त्यागकर, जिनमें कि उसके आध्यात्मिक जीवन में या जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होने की सम्भावना हो, एक वानप्रस्थी संन्यास-जीवन को ग्रहण करता था। इस जीवन में उसे सब-कुछ त्याग देना पड़ता था और संन्यासी के रूप में उसका दूसरा नामकरण होता था। इस अवस्था में उसके सारे सांसारिक बन्धन छूट जाते थे और वह परिव्राजक बन जाता था।

वह व्यक्ति, जो संन्यासाश्रम में प्रवेश कर चुका है उसे अपने पास कोई वस्तु नहीं रखनी चाहिए, न ही उसे किसी भी सहायता पर निर्भर रहना चाहिए। वह एक दिन में केवल एक बार भिक्षा मांग सकता है, जब उसे भिक्षा न मिले तो उसे उदास नहीं होना चाहिए और यदि वह भिक्षा प्राप्त कर लेता है तब भी उसे खुशी अनुभव नहीं करनी चाहिए। वास्तव में उसे न जीवन की और न ही मृत्यु की परवाह करनी चाहिए। अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित कर, अपने अन्दर से समस्त प्रकार की घृणा और मोह को दूर फेंककर, समस्त जीवित प्राणियों के लिए हानिरहित रूप में जीवित रहकर संन्यासी मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग्य हो जाता है।

आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व
(Importance of Ashrama System)

भारतीय समाज-दृष्टाओं ने जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की वैज्ञानिक व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया था। ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया था। ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत बालक समस्त

Scanned with CamScanner

सांसारिक आकर्षणों से दूर रहकर गुरु के आश्रम में, इन्द्रियों पर कठोर नियन्त्रण रखता हुआ ज्ञानार्जन करता है; गृहस्थाश्रम में देव-ऋण व ऋषि-ऋण के साथ-साथ पितृ-ऋण के उऋण होने के लिए अर्थात् सृजन के लिए यानि कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री के गर्भ में पुत्र के रूप में व्यक्ति स्वयं उत्पन्न होने के लिए प्रेरित होता है। वानप्रस्थ में व्यक्ति पुनः इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने का अभ्यास करते हुए एक ओर अपनी घटती हुई शक्ति को स्थिर रखने का अभ्यास करता है। दूसरी ओर संचित अनुभव को उपदेश और अध्ययन द्वारा समाज को प्रदान करता है। अन्त में संन्यासाश्रम में ऐन्द्रिय दृष्टि से पूर्ण संयमित व्यक्ति उस मोक्ष की साधना में लग जाता है जोकि उसके जीवन व आत्मा को समुन्नत बना उन्हें उसके परम प्राप्य और परम अधिगन्तव्य 'पद' पर पहुंचाने में सहायक होता है। आश्रम-व्यवस्था का यही व्यावहारिक महत्त्व है।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतीय दृष्टिकोण संकीण तर्था स्वार्थपूर्ण है और वह इस अर्थ में कि यहां लोग अपनी मुक्ति या मोक्ष-प्राप्ति के लिए जंगल में चले जाते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज उनकी सेवाओं से वंचित हो जाता है। परन्तु यह विचार गलत है और ऐसा वे लोग ही कहते हैं जोकि भारत और भारतवासियों के बारे में कुछ भी वास्तविक ज्ञान नहीं रखते। आश्रम-व्यवस्था परमार्थ की ही व्यवस्था है। ब्रह्मचर्याश्रम में बालक का दृष्टिकोण अपने ऊपर होता है। वह पढ़ता-लिखता, खाता-पीता, सोता और अपने आत्म, मन व शरीर को बनाता है। पर इसके बाद ही वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और उसी के साथ-साथ अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए जीना सीखता है, दूसरों को खिलाकर खुद खाता है। उसके भोजन में केवल उसके परिवार के लोगों का ही हिस्सा नहीं है, बल्कि पतित, रोगी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग तक का हिस्सा है।

पंच महायज्ञ को प्रत्येक गृहस्थी का प्रधान एवं आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाना इसी बात का द्योतक है। वानप्रस्थाश्रम परमार्थता की उच्चतर अवस्था है। इस आश्रम में निवास करते हुए व्यक्ति पंच महायज्ञों को तो करता ही है, साथ ही उपदेश और अध्यापन के माध्यम से अपने संचित अनुभव द्वारा समाज की सेवा करता है। उसकी कुटिया 'गुरुकुल' होती है जहां समाज की भावी पीढ़ी की व्यक्तित्व व चरित्र-निर्माण का सम्पूर्ण दायित्व वानप्रस्थी अपने ऊपर लेता है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस सेवा का महत्त्व पृथक् रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भूतयज्ञ व अतिथियज्ञ के माध्यम से व्यक्ति रोगी, अपाहिज, पतित समाज के लिए उपयोगी कार्य करने वालों का भरण-पोषण कर पारिवारिक आधार पर सामाजिक सुरक्षा की जो व्यवस्था करता है और उसके द्वारा समाज की जो सेवा गृहस्थी करता है उसका महत्त्व भी जिस प्रकार अत्यधिक है। उसी प्रकार भावी पीढ़ी को बल-वीर्य-ज्ञान का यथोचित अर्जन करने में सहायता करके जो सेवा वानप्रस्थी करता है उसका भी महत्त्व वास्तव में कम नहीं है।

Scanned with CamScanner